

शिक्षा के निजीकरण की दिशा

योगेन्द्र

‘सार्वजनिक-निजी साझेदारी’ की अवधारणा पर विचार की शुरुआत यदि इस वाक्यांश के घटक शब्दों से ही की जाए तो; यहां ‘सार्वजनिक’ शब्द राज्य के लिए प्रयुक्त हो रहा है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्य की अवधारणा स्पष्ट रूप से यह संप्रेषित करती है कि वह जनमत के आधार पर बनता है, जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है और जनता के लिए ही काम करता है। वस्तुतः यदि राज्य जनता की आकांक्षाओं को संबोधित करता या जन हित में काम कर रहा होता तो शायद उसे सार्वजनिक-निजी साझेदारी जैसे किसी विचार और प्रयास की जरूरत ही नहीं थी। समस्या की शुरुआत यहीं से होती है कि राज्य न तो जनता का प्रतिनिधित्व कर रहा है और न ही जनता की आकांक्षाओं को पूरा कर पा रहा है। लोकतांत्रिक राजनैतिक प्रणाली में राज्य वस्तुतः जनता पर निर्भर करता है और इसीलिए यह दिखाने की कोशिश करता है कि वह जनता के हितों को संबोधित करता है।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विमर्श में राज्य के चरित्र को समझने की जरूरत है। सही मायने में राज्य व्यवस्था का चरित्र क्या है ? सार रूप में, राज्य प्रभुत्वशाली वर्ग के शासन व्यवस्था पर कब्जा बनाए रखने का उपकरण रहा है। हमारे राज्य का चरित्र जिस ढंग से बना है वह जनता पर शासन का उपकरण भर है। इसलिए वह शासित को शासन प्रक्रिया से बाहर करता है और यह उसकी प्रकृति में ही निहित है। साथ ही वह यह आवरण लेकर भी चलता है कि वह बहुमत के हित में काम करता है। हर राज्य का यह नारा होता है कि वह लोकतांत्रिक है या समतावादी है या सामाजिक न्याय के लिए काम करता है। शासक वर्ग की आम जनता से जितनी दूरी होती है वह राज्य उतना ही अप्रजातांत्रिक होता है। जब इस तरह के शासन के हाथ में, बिना उसका चरित्र बदले, जन हित के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी देते हैं तो निश्चित ही ऐसे कार्यक्रम असफल होते हैं। क्योंकि वे जन भावना, जन सहयोग और जन भागीदारी से संचालित नहीं हो रहे होते हैं। तभी सरकारी व्यवस्था में यह स्वामित्व भाव आता है कि ये स्कूल या कार्यालय तो सरकार के हैं, इनसे किसी को क्या लेना-देना है या इनमें किसी का क्या अधिकार है! सरकारी संस्थान यह मानकर चलते हैं कि हम जनता के प्रति जवाबदेह नहीं हैं और हम जनता से सब कुछ पूछ सकते हैं लेकिन जनता को कुछ भी पूछने का अधिकार नहीं है। जनता के प्रति जवाबदेही का पूरा संकट यहीं से आता है।

लेखक परिचय :

वंचित वर्ग के बच्चों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए करीब दो दशकों से कार्यरत स्वयंसेवी संगठन ‘बोध शिक्षा समिति’ के निदेशक एवं संस्थापक सचिव

सम्पर्क :

एए-1, अनीता कॉलोनी, बजाज नगर, जयपुर-15

राज्य की प्रकृति इससे निर्धारित होती है कि वह वास्तविक अर्थों में आम जनता के हितों का कितना प्रतिनिधित्व करता है। सार्वजनिक संस्थानों को किस तरह बनाता है और आम जन की आवश्यकताओं को किस तरह पूरा करता है। राज्य आधारित सार्वजनिक व्यवस्था की असफलता का संकट इसीलिए आया है क्योंकि उसमें जनता के प्रति जवाबदेही और संवेदनशीलता का तत्व नहीं है। वर्तमान राजनैतिक प्रणाली में जो परिवर्तन हुए हैं उनका परिणाम यह हुआ है कि

राज्य में यह नैतिक अहसास भी नहीं है कि सरकारी लोग जनता के सेवक हैं या उन्हें जनता के लिए काम करना है और वे जनता के प्रति जवाबदेह हैं। आजादी के आन्दोलन के तत्काल बाद के दौर में जनता के प्रति जवाबदेही और जन हित में काम करने की भावना रही होगी, जिसे लाने के प्रयास भी उस समय किए गए। नवोदित राज्य के लिए तब यह आवश्यक था, इसके बिना वह बना नहीं रह सकता था। लेकिन आज वह राज्य के चरित्र में नहीं है। अभी के वास्तविक द्वन्द्वों से राज्य का चरित्र पूरी तरह अनावृत हो चुका है। अब जनता के प्रति जवाबदेही और संवेदनशीलता में विश्वास की जरूरत ही महसूस नहीं की जाती। यदि ये राज्य के स्वभाव/व्यवहार में नहीं हैं तो इससे किसी सरकार के अस्तित्व पर कोई भी फर्क नहीं पड़ता। यदि गांव के स्कूल या अस्पताल नहीं चल रहे हैं या सरकारी कर्मचारी काम नहीं कर रहे हैं तो इससे राज्य सरकारों पर किसी तरह का फर्क नहीं पड़ता। इसके बिना भी वे जीवित हैं और जीवित रह सकते हैं।

राष्ट्रीय विकास के कार्यों में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के अब बुलन्द किए जा रहे विचार का कई चरणों में विकास हुआ है। सबसे पहले राज्य संचालित सामाजिक प्रकल्पों के अपयश एवं असफलता के उजागर होने पर सत्ता के गलियारों में यह चिन्ता और चिन्तन आरंभ हुआ कि आम-जन को जन विकास कार्यों में कैसे शामिल किया जाए? तब बहुत जोर-शोर से यह कहा गया कि व्यापक जनता के हितों के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं और उनके क्रियान्वयन में समुदाय और आम जन को भागीदार बनाया जाना चाहिए। यह लम्बे समय तक 'समुदाय और जनता की भागीदारी' सरकारी प्रचार का पहला नारा था। लेकिन जिस तरह से जन सहभागिता के प्रयास किए गए उनसे कुछ नहीं हो पाया। यह विचार भी आगे चलकर अप्रभावी हो गया क्योंकि इससे राजकीय संस्थानों के चरित्र या कार्य प्रणाली में किसी तरह का गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया। समुदाय और आम जन की भागीदारी का यह तरीका, जो एक ज्यादा ठीक तरीका हो सकता था, वहां पर भी अब निराशा का भाव हावी हो गया है।

इन प्रयासों की स्वाभाविक विफलता के बाद सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार आया है। सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार को समझने के लिए दो समस्याओं पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। एक, राज्य जनता के हितों और आकांक्षाओं का कितना प्रतिनिधित्व करता है। अतः यहां पर राज्य के लिए 'सार्वजनिक' शब्द का प्रयोग कितना उचित है? दूसरे, 'सार्वजनिक' में समुदाय और जनता की भागीदारी नहीं करके निजी-व्यावसायिक हिस्सेदारी के रास्ते का चुनाव कितना उचित है?

शायद यह कहना ज्यादा उचित होगा कि हमारे यहां राज्य जनता का प्रतिनिधित्व करने में असफल रहा है। वस्तुतः योजना निर्माण, योजनाओं के क्रियान्वयन, शासन (गवर्नेन्स) और आम जन से जुड़े कार्यों में जनता की सहभागिता अर्जित करने में राज्य सफल नहीं रहा है। यह कार्य नहीं कर पाने के बाद अब कहा जा रहा है कि सार्वजनिक व्यवस्थाओं का निजीकरण किया जाना चाहिए और इसके लिए निजी क्षेत्र के साथ भागीदारी का हाथ बढ़ाया जा रहा है। सैद्धांतिक रूप से इसकी व्याख्या यह हो सकती है कि राज्य और जनता, दोनों, एक हैं और निजी क्षेत्र तीसरी अलग स्वायत्त इकाई है। निजी से आशय निजी उद्यमियों और कॉर्पोरेट जगत की आर्थिक सत्ताओं से है, जिनके अपने संस्थान, संसाधन और प्रबंधन के तरीके हैं। सार्वजनिक-निजी साझेदारी में इन्हें 'सार्वजनिक' व्यवस्थाओं में भागीदार बनाना ही मकसद है। यहां एक सवाल यह भी है कि क्या इनके अलावा भी किसी को साझेदार बनाने की बात की जा रही है?

सार्वजनिक और निजी का विभाजन 'संस्थानों' को चलाने की प्रक्रिया और समझ में निहित है। यह फर्क संस्थानों को सार्वजनिक पद्धति और निजी पद्धति पर चलाने की प्रक्रिया एवं समझ के रूप में देखा जा सकता है। निजी संस्थानों के संचालन में निर्णय प्रक्रिया और प्रबंधन कुछ ही लोगों के हाथों में निहित होता है लेकिन संस्थानों को सार्वजनिक पद्धति से संचालित करने में निर्णय प्रक्रिया और प्रबंधन को जनतांत्रिक बनाना होता है और इसमें वस्तुतः सार्वजनिक तत्व को लाना पड़ता है। ये दो अलग-अलग प्रकार की सोच हैं। सार्वजनिक-निजी साझेदारी में इन दोनों को एक साथ लाने की बात की जा रही है। क्योंकि हमारी राज्य नियंत्रित सार्वजनिक पद्धति में, जनतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया और जनोन्मुख तरीकों से सार्वजनिक संस्थानों के संचालन में कहीं न कहीं समस्या रही है। अब अपनी नई पहल में राज्य सार्वजनिक-निजी साझेदारी के तहत सार्वजनिक संस्थाओं को निजी पद्धति और संचालन की व्यावसायिक प्रक्रियाओं की ओर ले जाने की मांग कर रहा है। इस विचार का एक पक्ष यह है और दूसरा है कि राजनैतिक नेतृत्व को इन दोनों विचारों में किसी तरह का विरोधाभास नजर नहीं आता।

एक राजनैतिक विचारधारा यह है कि आर्थिक या सामाजिक प्रक्रियाओं का संचालन निजी क्षेत्र के हाथों में जाना अच्छी बात है और यदि ऐसा होता है तो यह व्यापक समाज के हित में है। जिन लोगों की इस राजनैतिक विचारधारा से सहमति है, उनको सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार अपनी विचारधारा के अनुरूप लग रहा है। हमें लगता है कि यह मूलतः निजीकरण का रास्ता है। जिसमें सीधे-सीधे यह नहीं कहा जा रहा है कि राज्य अपनी सामाजिक कल्याण के कार्यों की जिम्मेदारियों से पूर्णतः बाहर हो जाए। लेकिन

ऐसा करने के लिए इसे एक रास्ते की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। इसके लिए दो तरह की परिस्थितियां उत्पन्न की जा रही हैं। एक ओर सार्वजनिक पद्धति के प्रति सनकीपन पैदा किया जा रहा है कि यह पद्धति असंभव है, कारगर नहीं है और यह कारगर हो ही नहीं सकती। दूसरी तरफ यह दिखाने की कोशिश की जा रही है कि संस्थाओं के निजी प्रबंधन से सामाजिक विकास एवं कल्याण से जुड़ी समस्याओं को प्रभावी ढंग से हल किया जा सकता है। इस राजनैतिक विचारधारा में निजीकरण का आना लाजमी है और इसमें किसी तरह की असंगति नहीं है। सार रूप में, इस विचारधारा के पैरोकार राजनैतिक रूप से निजीकरण के पक्षधर हैं और सामाजिक क्षेत्र में भी निजीकरण को लाना चाहते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण का विचार सरल तरीके से परोपकारपूर्ण नजर आ सकता है कि निजी संस्थान आम जन के हित में कुछ योगदान कर रहे हैं या अपने संसाधनों का इस्तेमाल कर रहे हैं। लेकिन यह देखे जाने की जरूरत है कि ये निजी उद्यमी जन हित के कार्यों में अपने व्यावसायिक हितों को कितना दूर रख पाएंगे ? क्योंकि अभी तक निजीकरण का मूलमंत्र मुनाफा और बाजार रहा है। ये सभी इकाईयां इसी पर खड़ी हैं। इनके इस आधार को हटा देने के बाद कोई भी सामाजिक गतिविधि सार्वजनिक गतिविधि हो जाएगी। यदि निजी मुनाफा नहीं है तो या तो निजी इकाई सार्वजनिक हो जाएगी अन्यथा वह अपने मूल रूप को बाहर लाएगी और अन्ततः उसे व्यावसायीकरण की तरफ ले जाएगी।

सार्वजनिक हित के क्षेत्रों में निजी उद्यमियों का आना इसलिए भी चिन्ताजनक है क्योंकि सामाजिक विकास या कल्याण के कार्यों, जिनसे आम आदमी का वास्ता पड़ता है, के पीछे आम आदमी के कुछ बुनियादी अधिकारों की मान्यता है। समाज का राजनैतिक प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों या सरकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बिना शोषण के इन अधिकारों की पूर्ति की व्यवस्था करें। लेकिन व्यावसायिक तत्व आने से इन अधिकारों की बिना शोषण के पूर्ति की मान्यता सारतः प्रभावित होने की संभावना है। सार्वजनिक संस्थाओं में व्यावसायीकरण के तत्व के आने के उदाहरण राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व्यवस्था और बीमा क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। इन दोनों क्षेत्रों से लोगों की एक तरह की आवश्यकताएं तो पूरी होती हैं लेकिन इसमें अपने ढंग का व्यवसाय भी होता है और कहीं न कहीं व्यवसाय ही सारतः उनके मूल में है।

वर्तमान शासक दलों की राजनैतिक विचारधारा और सार्वजनिक व्यवस्थाओं के निजीकरण में कोई असंगतता नहीं है। जो राजनैतिक-आर्थिक ताकतें निजीकरण की तरफ ले जा रही हैं उनमें और राज्य के चरित्र में किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखाई

देता। वर्तमान समय में निजी संस्थानों और राज्य की कार्य पद्धति में मूलभूत फर्क नहीं है।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी को वर्तमान वैचारिक, राजनैतिक परिदृश्य में देखे जाने की आवश्यकता है। साझेदारी का यह प्रस्ताव वैश्वीकरण, बाजारीकरण और निजीकरण की पृष्ठभूमि में ज्यादा उभर कर आ रहा है। क्योंकि निजी उद्यम और निजी उद्यमी पहले भी थे और शिक्षा के क्षेत्र में भी रहे हैं। लेकिन उस समय के औद्योगीकरण एवं तकनीक के स्वरूप में और आज के औद्योगीकरण और तकनीक के स्वरूप में बहुत बड़ा फर्क आया है। उस समय जितने मानव संसाधन या श्रमिकों की जरूरत होती थी उतना निजी उद्यमी अपने निजी संस्थानों में तैयार कर पाने में सक्षम थे। जैसे कि कहीं एक निजी इंजीनियरिंग कॉलेज या देश भर में दो-चार संस्थान खोलने से उनके लिए जरूरी मानव संसाधन तैयार हो जाता था और इसलिए उन्हें आम जन की चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं होती थी।

शिक्षा के निजीकरण पर पड़ने वाले दबाव में उत्पादन तकनीक, व्यवसाय और सूचना प्रौद्योगिकी में होने वाले परिवर्तनों की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। तमाम संस्थानों के कम्प्यूटरीकरण या मशीनीकरण से जो प्रक्रियाएं शुरू हुई उसमें मशीनों को संचालित करने के लिए इन तकनीकों से परिचित मानव संसाधन की बड़े पैमाने पर आवश्यकता पैदा हुई है। बाजार व्यवस्था और अन्य सेवा क्षेत्रों का भी सूचना प्रौद्योगिकी और कम्प्यूटर की वजह से बहुत विकास हुआ है। 15 साल पहले टेलीफोन किसी व्यापक दृश्य में नहीं हुआ करता था। आज उसकी पहुंच हर कहीं है। इसी तरह शहरीकरण में मॉल की संस्कृति या रिटेल उद्योग या कॉल सेन्टर या बैंकिंग आदि का नया व्यापक परिदृश्य उभरकर आया है। ये जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे सभी तकनीकी विकास, कम्प्यूटर तकनीक पर आधारित हैं। इस परिवर्तन के हिसाब से कुशल मानव संसाधन हमारे देश में है ही नहीं। इस तरह की जरूरतें इससे पूर्व के औद्योगिक उत्पादन के स्तर पर नहीं थीं।

अभी परिदृश्य इतना ताजा तरीन है जिसके बारे में 40-50 साल पहले तक कोई सोच नहीं सकता था। इस परिवर्तन से उथल-पुथल मची हुई है, वह एक जरूरत पैदा कर रही है और उस जरूरत को हमारी सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था सही ढंग से पूरा नहीं कर पा रही है। इसलिए इस व्यवस्था पर प्रश्न खड़े किए जा रहे हैं। इसको लेकर निजीकरण के पैरोकारों में खास तरह की व्यग्रता है कि जल्दी से जल्दी ऐसा कुछ किया जाए कि उनकी जरूरतें पूरी हो सकें। निजी उद्यमों के व्यापक आर्थिक और व्यावसायिक हितों के लिए जिस तरह के श्रमिकों या मानव संसाधन की आवश्यकता है उसकी पूर्ति वर्तमान शिक्षा व्यवस्था नहीं कर पा रही है। उसकी

गुणवत्ता का, एक तरह का, संकट आया है और यह व्यापार, उत्पादन या बाजार के नए आयामों के अनुरूप नहीं है। इसलिए कुशल श्रमिकों की पूर्ति एक ज्यादा बड़ी समस्या बन गई है। इनकी चिन्ता का संचालन रोजगार के काबिल कुशल मानवीय संसाधन या श्रमिकों की हमारी आबादी में कमी से हो रहा है, जो कि उनके आर्थिक रूप से टिके रहने के लिए अहम है। इसीलिए शिक्षा एवं अन्य व्यवस्थाओं के निजीकरण पर सबकी तुरंत सहमति बन गई है। इसका एक उद्देश्य आम जनता को व्यापक रूप से बाजार की परिधि में लाना भी है।

शिक्षा में गुणवत्ता की कमी की समस्या पिछले पांच-दस सालों में एकदम उठी है। आज इसके सबसे प्रखर प्रवक्ता निजी घराने और कॉरपोरेट जगत के लोग हैं। वे सार्वजनिक व्यवस्था से अपनी मान्यताओं को सिद्ध करने वाले प्रमाण जुटाकर ला रहे हैं। गुणवत्ता शब्द का प्रयोग अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह से करते रहे हैं। लेकिन जो लोग अभी एक स्वर में गुणवत्ता शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं वे बाजार, उत्पादन और व्यवसाय की प्रक्रियाओं से तय कर रहे हैं कि शिक्षा की गुणवत्ता क्या होगी। यदि उनके लिए उपयोगी मानव संसाधन तैयार हो पा रहा है तो शिक्षा की गुणवत्ता अच्छी है और यदि नहीं हो पा रहा है तो गुणवत्ता अच्छी नहीं है। यहां गुणवत्ता सुधार का मतलब अपने व्यवसाय के अनुरूप श्रमिक प्राप्त करना है। अर्थात् बाजार, व्यवसाय या आर्थिक गतिविधियों के अनुरूप ज्यादा मानव शक्ति निर्मित करना है। यह शिक्षा की एक सीमित परिभाषा है। इसमें शिक्षा के दूसरे पक्ष शामिल नहीं हैं।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के तहत शिक्षा की गुणवत्ता के नाम पर जितने कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं उनमें से मुख्य रूप से सूचना प्रौद्योगिकी, कम्प्यूटर शिक्षा या अधुनातन तकनीक सिखाने से संबंधित हैं ताकि विद्यार्थियों को नवीनतम तकनीक संचालित करना सिखाया जा सके जिन पर आजकल के व्यावसायिक क्रियाकलाप आधारित हैं। इनका सरोकार उत्पादन कार्यों से है कि कितना ज्यादा और बेहतर माल उत्पादन कर पाने में सक्षम लोग तैयार हो पाएं। अतः शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी या गुणवत्ता के सवाल खड़े किए जा रहे हैं। यह विमर्श आम जन की आकांक्षाओं या जरूरतों को पूरा करने के लिए नहीं किया जा रहा है। इस पूरी चर्चा में आम जन के सरोकार कहीं नहीं हैं।

शिक्षा की इसी सीमित परिभाषा का परिणाम यह होगा कि शिक्षा प्रक्रियाओं में सामाजिक मुद्दों, संसाधनों के स्वामित्व और सामाजिक समता और न्याय जैसे मुद्दों पर कोई बात नहीं होगी। बजाए इसके जो काम दिया जाए उसे प्रभावी और कुशलतापूर्वक कर पाने की क्षमताओं के विकास पर जोर दिया जाता है। ताकि

कोई भी व्यक्ति आज्ञाकारिता और दक्षतापूर्वक उनके हित में काम कर सके। उनकी चिन्ता भी है कि इस तरह की मानसिकता तैयार किए बिना वर्तमान राजनैतिक-आर्थिक ढांचे बने नहीं रह सकते और इसके लिए शिक्षा से बेहतर कोई जरिया नहीं हो सकता।

राज्य की अपनी बाध्यताएं हैं। इसी के चलते सार्वजनिक-निजी साझेदारी के नाम पर निजी संस्थानों को स्कूलों में बिना विवाद के राजनैतिक और व्यवहारिक रूप से जगह मिल रही है। इस तरह के विचारों को अंजाम देने के लिए यह राजनीति काम कर रही है कि दूसरी तरह के विकल्पों को पहले धूल-धूसरित किया जाए और सार्वजनिक व्यवस्था के प्रति आम जन के मन में नैराश्य उत्पन्न करके अपने एजेण्डा को आगे बढ़ाया जाए।

यदि हम पुनः साझेदारी शब्द के अर्थ पर आए तो इसका ठीक आशय समान धरातल पर अन्तः क्रियात्मक संबंध से होता है। और इस तरह के संबंध से, साझे रूप में, यथास्थिति में परिवर्तन का प्रयास हो सकता है, जो कि वर्तमान परिस्थिति में अकेले नहीं किया जा सकता। इस अन्तः क्रिया से समस्याओं के बेहतर समाधान के लिए व्यवस्था का कोई ऐसा रूपान्तरित ढांचा निर्मित किया जा सकता है जो कि ज्यादा उपयुक्त हो। सार्वजनिक-निजी साझेदारी की समस्या यही है कि इस साझेदारी में होने वाली अन्तः क्रिया पूर्णतः निजी हितों के अन्तर्गत हो रही है। मूलतः इस साझेदारी के माध्यम से हमारे सार्वजनिक तंत्र, व्यवस्थाओं और संस्थानों को निजीकृत व्यवस्था के रूप में रूपान्तरित किया जा रहा है।

साझेदारी की इस प्रक्रिया में एक सवाल यह भी है कि साझेदारों के पहले विकल्प, निजी उद्यमियों, के माध्यम से सरकार की मंशा जन केन्द्रित सार्वजनिक संस्थानों को लोकतांत्रिक संस्थानों के रूप में रूपान्तरण करने की है या निजी केन्द्रित संस्थाओं के तौर पर रूपान्तरण की ? इस साझेदारी में दोनों ही तरह की दिशा संभव है लेकिन राज्य किस तरह की साझेदारी को स्थान और महत्त्व दे रहा है यह अपने आप में एक राजनैतिक मुद्दा है। क्या राज्य के दिमाग में इस तरह के हस्तक्षेप का कोई नक्शा है ? क्या सार्वजनिक संस्थानों की खाई को पहचानकर उनके लोकतांत्रिकरण का नक्शा उनके दिमाग में है ? क्या सार्वजनिक संस्थानों के लोकतांत्रिकरण के आधार पर प्राथमिकता तय की जा रही है ? यदि यह दिशा तय नहीं है और यह आशा की जा रही है कि यह सामान्य रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से लोकतांत्रिकरण की दिशा में चला जाएगा तो यह एक बड़ी भ्रांति है।

सार्वजनिक व्यवस्था में साझेदारी का ज्यादा उचित रूप यह हो सकता था कि नागरिक समाज या अन्य सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से, जो कि मुनाफे या निजी हितों से संचालित नहीं होतीं,

उसे बेहतर दिशा में ले जाया जाता। राज्य उन प्रमाणिक संस्थाओं, समूहों और नागरिक समाज को आमंत्रित करता और अन्तः क्रिया करते हुए यह पता लगाने की कोशिश करता कि राज्य द्वारा संचालित व्यवस्था और तंत्र में जो कमी है उसे कैसे पूरा किया जाए ? उनके साथ साझेदारी उत्पन्न करते हुए यह दृष्टि हो सकती थी कि कैसे सार्वजनिक संस्थाओं में आम जन की उपस्थिति और भागीदारी की खाई को पाटा जाए और सही अर्थों में लोकतांत्रिकरण की दिशा में ले जाया जाए। साथ ही इससे राज्य के काम करने के वर्तमान तरीकों को भी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की ओर ले कर जाया जा सकता था।

वर्तमान स्थितियों को बदलने की जरूरत है और यह परिवर्तन आम जन भी चाहता है। लेकिन वास्तव में सार्वजनिक-निजी साझेदारी के नाम पर हो रहा परिवर्तन आम जन की जरूरतों को पूरा कर पाने की दिशा में नहीं है। बल्कि जो ताकतें इस परिवर्तन में भूमिका निभा रही हैं वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वैश्वीकरण, निजीकरण और बाजारीकरण के लिए काम कर रही ताकतें हैं। कॉरपोरेट जगत के व्यावसायिक मुनाफे के जो निहित स्वार्थ हैं उनके लिए भी यही मुफीद व्यवस्था है। ये ताकतें बहुत ही संगठित, ताकतवर और जोड़-तोड़ वाली हैं।

अभी सरकार के दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन यह आया है कि उन्होंने भी यह कहना शुरू कर दिया है कि सार्वजनिक व्यवस्था चल ही नहीं सकती। मूल बात तो यह है कि जिसे सार्वजनिक व्यवस्था कह रहे हैं वह कभी सही मायने में सार्वजनिक थी ही नहीं। यदि ये संस्थान सही मायने में कभी सार्वजनिक रहे होते तो सफल भी होते। वे तो हमेशा से ही राज्य के संस्थान थे। जो सार्वजनिक व्यवस्था कभी पैदा ही नहीं की गई उस व्यवस्था के असफल होने को कहा जा रहा है कि सार्वजनिक व्यवस्था असफल हो गई है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा रहा है कि इसके स्थान पर निजी व्यवस्था आनी चाहिए। पहले यह कहा जाता था कि राजकीय व्यवस्थाएं जन हित में काम कर सकती हैं लेकिन अब यह कहा जा रहा है कि राज्य और निजी संस्थाएं मिलकर जन हित के लिए काम कर सकती हैं। सार रूप में यह संभव ही नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों प्रकार की संस्थाएं सार्वजनिक हित का विरोध करती हैं। कुछ समय तक सार्वजनिक कह कर राज्य अपनी आवश्यकताएं पूरा करता रहा और अभी निजी संस्थान अपने को सार्वजनिक हित में काम करने वाला कह कर अपने हितों को पूरा कर लेंगी। इस साझेदारी के बावजूद भी सही मायने में जन हित में कार्य नहीं होगा। जन हित के कार्य तो सही मायने में तभी होंगे जब वास्तविक अर्थों में जनतांत्रिक संस्थान अस्तित्व में आएंगे और इस तरह के जनतांत्रिक संस्थानों के उभरने की संभावना सार्वजनिक-निजी साझेदारी में नहीं लगती।

शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी हमारी शिक्षा व्यवस्था के सम्मुख कुछ चुनौतियां पेश करती है। शिक्षा में निहित मानवीय और सामाजिक तत्व सार्वजनिक-निजी साझेदारी या निजीकरण के प्रयास में शिक्षा प्रक्रियाओं में पीछे चले जाएंगे। जैसे कि सामाजिक न्याय, समता या जेण्डर आदि के मुद्दे। ये मुद्दे शिक्षा प्रक्रियाओं में मुख्य और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। शिक्षा नागरिकों को सामाजिक न्याय और समता की भावना प्रदान करती है। सांस्कृतिक मूल्यों और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता लेती है। वह समाज के जनतांत्रिकरण की ओर ले जाने में मदद करती है। इन मूल्यों की सराहना शिक्षा में पहले भी बहुत कम होती थी। इसके बाद तो ये और भी कम महत्व के रह जाएंगे। ऐसा लगता है कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी के तहत जिस तरह की शिक्षा व्यवस्था या शिक्षा प्रक्रियाएं होंगी उसमें इन्हीं चीजों पर सबसे कम बात होगी।

शिक्षा में इन मूल्यों की बात नहीं होना एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। लेकिन यह देखा जा सकता है कि निजीकरण के विमर्श से ये मूल्य राजनीति में पहले ही गायब हो चुके हैं। करीब 20 साल पहले के राजनैतिक विमर्श और हाल के राजनैतिक विमर्श का एक मूल अन्तर यह है कि पहले न्याय, बराबरी और आम जनता का बिना जिक्र किए कोई बात नहीं की जा सकती थी। अब अध्याय के अध्याय उठाकर देखे जा सकते हैं जिनमें, और सब चीजों के होते हुए, यह शब्दावली सिरे से गायब है। पहले समाजवाद, न्याय, समता आदि जैसे शब्दों के बिना राजनैतिक विमर्श पूरा नहीं होता था। अब ये विलुप्त प्रजाति जैसे शब्द हो गए हैं। अब विचारधारात्मक शब्द तो हैं ही नहीं। संसदीय बहसों में अन्य शब्दावली है लेकिन यह नहीं है। अब इन चीजों को राज्य ने छोड़ दिया है। ये राजनैतिक और आर्थिक विमर्श से पहले गायब हुए हैं। यही समान परिदृश्य अब शिक्षा में घटित हो रहा है। शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी की प्रक्रिया जल्दी ही शिक्षा को निजीकरण के उपकरण की तरह प्रयोग में लाने के लिए है।

हमारे देश में पिछले दो दशकों में जो राजनीति और आर्थिक दिशा रही है वह निजीकरण के पक्ष की विचारधारा है और इसे लगातार बनाए हुए है। फिर चाहे सरकार किसी भी राजनैतिक पार्टी की रही हो। सभी बड़े राजनैतिक दल और गठबन्धन एक ही समान दिशा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अन्त में, शिक्षा में सार्वजनिक-निजी साझेदारी हमारी वर्तमान राजनैतिक दिशा का ही परिणाम है जो कि शिक्षा और सार्वजनिक व्यवस्थाओं को निजीकरण की ओर ले जाना चाहती है। ♦